

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति

ममता कुमारी

गवेषिका, इतिहास विभाग, ल० ना० वि० विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

ईमेल- mamtascholar121@gmail.com

संक्षिप्त सार

भारत की प्राचीन शिक्षापद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है। जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे— एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व-पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे।

शब्द संकेत : शिक्षापद्धति, औपचारिक, अनौपचारिक, गृहस्थ, आचार्यों और भिक्षा ।

विषय प्रवेश :

भारत की प्राचीन शिक्षापद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है। जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएँ सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी। गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे— एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व-पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा-याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलतः काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये। कभी-कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहाँ एक नया गाँव बन जाता था। इन गाँवों को अग्रहार कहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान् बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा-दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। अशोक (300 ई० पू०) ने बौद्ध विहारों की विशेष उन्नति करायी। कुछ समय पश्चात् ये विद्या के महान केन्द्र बन गये। ये वस्तुतः गुरुकुलों के ही समान थे। किन्तु इनमें गुरु किसी एक कुल का प्रतिनिधि न होकर सारे विहार का ही प्रधान होता था। ये धर्म प्रचार की दृष्टि से जनसाधारण के लिए भी सुलभ थे। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय (450 ई०), वल्लभी (700 ई.), विक्रमशिला (800 ई०) प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी मन्दिरों में विद्यालय खोले जो आगे चल कर मठों के रूप में परिवर्तित हो गये।

नारियों के लिये शिक्षा व्यवस्था:

वेदों में उल्लिखित कुछ मन्त्र इस बात को रेखांकित करते हैं कि कुमारियों के लिए शिक्षा अपरिहार्य एवं महत्वपूर्ण मानी जाती थी। स्त्रियों को लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थी। सहशिक्षा को बुरा नहीं समझा जाता था। गोभिल गृहसूत्र में कहा गया है कि अशिक्षित पत्नी यज्ञ करने में समर्थ नहीं होती थी। संगीत शिक्षा पर जोर दिया जाता था। इच्छा और योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए श्रमणक्रमणिका में उल्लिखित प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की रचना में २०० स्त्रियों का योगदान है। शकुन्तला राव शास्त्री ने इसे तीन कोटि में विभाजित किया है। (१) महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक, (२) आंशिक रूप से महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक एवं (३) महिला ऋषिकाओं को समर्पित श्लोक। ऋग्वेद के दशम मंडल के ३६ एवं ४० सूक्त की ऋषिका घोषा, रोमशा, विश्ववारा, इन्द्राणी, शची और अपाला थी।

वैदिक युग में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण कर वेदाध्ययन एवं सायं— प्रातः होम आदि कर्म करती थी। शतपथ ब्राह्मण में व्रतोपनयन का उल्लेख है। हरित संहिता के अनुसार वैदिक काल में शिक्षा ग्रहण करने वाली दो प्रकार की कन्याएँ होती थी— ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवात्। सद्योवात् १५ या १६ वर्ष की उम्र तक, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था, तब तक अध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना एवं यज्ञों के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी।

महावीर और गौतम बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दी थी, ये धर्म और दर्शन के मनन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। जैन और बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि कुछ भिक्षुणियों ने साहित्य के विकास और शिक्षा में अपूर्व योगदान दिया जिसमें अशोक की पुत्री संधमित्रा प्रमुख थी। यहाँ बौद्ध आगमों की महान शिक्षिकाओं के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। जैन साहित्य से जयंती नामक महिला का पता चलता है जो धर्म और दर्शन के ज्ञान की प्यास में अविवाहित रही और अंत में भिक्षुणी हो गई।

हाल की गाथासप्तशती में सात कवयित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। शीलभट्टारिका अपनी सरल तथा प्रासादयुक्त शैली तथा शब्द और अर्थ के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध थी। देवी लाट प्रदेश की कवियित्री थी। विदर्भ में विजयांका की कीर्ति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे। अवंतीसुन्दरी कवियित्री और टीकाकार दोनों ही थी। कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रचनाएँ की हैं जिनमें रुसा का नाम बड़ा प्रसिद्ध है।

आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक्—प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा की व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः कन्याओं के लिए पृथक् पाठशालाएँ न थीं। जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं। उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी अध्ययन कर रही थी। भवभूति ने मालती माधव (प्रथमांक) में कामन्दकी के गुरुकुल में अध्ययन करने का वर्णन किया है। किन्तु ये उदाहरण बहुत कम हैं। अधिकतर गुरुपत्नी, गुरुकन्या अथवा गुरु की पुत्रवधू ही गुरुकुल में रहने के कारण अध्ययन का लाभ उठा पाती थीं वस्तुतः शास्त्रों के अनुरोध पर कन्याओं की शिक्षा गृह पर ही होती थी।

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा :

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा के क्रम में विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखित पुस्तकों का अवलोकन किया गया है जिसमें :
घोंग और अन्य (२०२०) वैदिक काल में शिक्षा के समग्र स्वरूप पर चर्चा करते हैं, जिसमें मानसिक नियंत्रण और व्यावहारिक—आध्यात्मिक तालमेल पर ध्यान दिया गया है।

मिश्र और अन्य (२०२३) इस युग की व्यावहारिक शिक्षाओं और शिक्षक—छात्र संबंधों का और अधिक अध्ययन करते हैं और आधुनिक शिक्षण पद्धतियों के साथ उनकी समानताएँ बताते हैं।

अल्टेकर, ए०एस० (२००९), वेदांत के नजरिए से, शिक्षा सिर्फ सामाजिक या आर्थिक तरक्की का जरिया नहीं है, बल्कि यह आंतरिक बदलाव की एक पवित्र प्रक्रिया है। इसका सबसे बड़ा मकसद आत्म—साक्षात्कार है। कृत्यानी यह सीधा अनुभव करना कि इंसान का असली स्वरूप दिव्य और शाश्वत है।

यादव, यू. (२०१८), इस दार्शनिक सोच नेकृकि दुनिया असल में एक भ्रम (माया) है और सिर्फ ब्रह्म ही सत्य है। कृष्णार्जुन की दुनिया की मोह—माया से दूर रहने और आध्यात्मिक अनुशासन, नैतिकता और मानसिक पवित्रता पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रेरित किया।

शार्फ, एच. (२०१८), सांख्य—आधारित शिक्षा का मकसद व्यक्ति को दुख और पुनर्जन्म के चक्र (संसार) से मुक्त करना था। हालाँकि यह एक दार्शनिक विचारधारा थी, न कि कोई धार्मिक सिद्धांत, फिर भी सांख्य का प्रभाव आध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्ष (लौकिक) दोनों तरह की शिक्षाओं में देखा जा सकता है, खासकर आयुर्वेद, योग और तार्किक सोच की पद्धतियों में।

अध्ययन पद्धति :

यह शोध आलेख मुख्य रूप से वर्णन एवं विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक आलोचनात्मक अध्ययन पद्धति पर आधारित है। अतः यह शोध आलेख मुख्य रूप से द्वैतियक स्रोत पर आधारित है। इस अध्ययन के लिए मूल अध्ययन स्रोत तत्कालीन पत्रा—पत्रिकाओं एवं दस्तावेज तथा विभिन्न आचार्यों द्वारा सम्पादित पुस्तकों द्वारा लिया गया है।

छात्रावासों का प्रबन्ध:

प्राचीन भारत में गुरु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में रहकर विद्योपार्जन श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव अधिकांश विद्यार्थी गुरु कुलों में ही रहते थे। गुरु जन अपने घर पर ही विद्यार्थी के आवास-निवास की व्यवस्था करते थे। भोजन का कार्य भिक्षा वृत्ति द्वारा चलता था अथवा अध्यापक के गृह में भी व्यवस्था हो जाती थी। उस समय एक गुरु के पास एक साथ प्रायः पन्द्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं पढ़ते थे। कभी-कभी तो केवल चार विद्यार्थी ही एक गुरु के अधीन अध्ययन करते थे। अतएव उनके भोजन व निवास की व्यवस्था करना गुरु के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होता था। किन्तु गुरु के विद्यार्थियों का प्रबन्ध करने में असमर्थ होने पर विद्यार्थी अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करते थे।

अध्यापन कार्य में विद्यार्थी से धन मांगना अध्यापक के लिए अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। गुरु निर्धन से निर्धन विद्यार्थी को भी पढ़ाने से मना नहीं कर सकता था। जो गुरु विद्या के लिए मोल-भाव करता था उसको विद्या का व्यवसायी कह कर हेय समझा जाता था। ऐसे अध्यापकों को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक् के कार्य के अयोग्य कहा गया। किन्तु गुरु के पढ़ाये हुए एक ही अक्षर द्वारा शिष्य उसका ऋणी समझा जाता था। अतएव समावर्तन के अवसर पर शिष्य गुरु-दक्षिणा के रूप में सामर्थ्यानुसार गुरु को धन देते थे। जो अत्यन्त निर्धन होते थे वे गुरु की गृहस्थी में सेवा-कार्य करके तथा समावर्तन के समय भिक्षा मांग कर गुरु दक्षिणा देते थे। वस्तुतः राजा और प्रजा दोनों का कर्तव्य था कि वे विद्वान् आचार्यों एवं शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दें।

सह-शिक्षा एवं पृथक् शिक्षा विवेचन:

प्रागैतिहासिक काल में साहित्यिक तथा व्यावसायिक हर प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही होती थी। ऐसी अवस्था में सम्भवतः सगे भाई-बहन तथा चचेरे भाई-बहन सम्मिलित होकर ही परिवार के शिक्षित अग्रजनों के संरक्षण में विद्योपार्जन करते रहे होंगे। किन्तु धीरे-धीरे विद्या के भण्डार में प्रचुर वृद्धि हो जाने से विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी। अतएव विद्यार्थियों के लिए परिवार से दूरस्थ स्थानों पर जाकर प्रतिष्ठित विद्वानों के संरक्षण में वांछित विषयों का अध्ययन करना आवश्यक हो गया। प्रायः कन्याओं को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर के बाहर विद्वान् आचार्यों के पास जाना पड़ता था। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारे ग्रन्थों से बहुत कम संकेत प्राप्त होते हैं।

उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ पढ़ने वाली आत्रेयी नामक स्त्री का उल्लेख हुआ है। जो इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि उस युग में सह-शिक्षा का प्रचार था। इसी प्रकार मालती-माधव में भी भवभूति ने भूरिवसु एवं देवराट के साथ कामन्दकी नामक स्त्री के एक ही पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन किया है। भवभूति आठवीं शताब्दी के कवि हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यदि भवभूति के समय में नहीं तो उनसे कुछ समय पूर्व तक बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का प्रचलन अवश्य रहा होगा। इसी प्रकार पुराणों में कहोद और सुजाता, रूहु और प्रमदवरा की कथाएं वर्णित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कन्याएं बालकों के साथ-साथ पाठशालाओं में पढ़ती थीं तथा उनका विवाह युवती हो जाने पर होता था। परिणामतः कभी-कभी गान्धर्व विवाह भी हो जाते थे। ये समस्त प्रमाण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषों के बीच रह कर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थीं। उस युग में सहशिक्षा-प्रणाली का अस्तित्व भी इनसे सिद्ध होता है। गुरुकुलों में सहशिक्षा का प्रचार था, इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह सूत्र में वर्णित समावर्तन संस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि में स्नातक के अनुलेपन क्रिया के वर्णन में बालक एवं बालिका का समावर्तन संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होना पाया जाता है। उस युग में स्त्री के ब्रह्मचर्याश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तन संस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार प्रमाणित हो जाता है।

पूर्व काल में जब बड़ी संख्या में स्त्रियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण कर रही थीं और अपना अमूल्य योगदान देकर साहित्य के गौरव को बढ़ा रही थीं, उस समय उनमें से कुछ अध्यापन कार्य भी अवश्य ही करती होंगी। संस्कृत साहित्य में उपाध्याया एवं उपाध्यायानी शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। उपाध्याय की पत्नी को आदर पूर्वक उपाध्यायानी कहा गया है, किन्तु उपाध्याया उन विदुषी नारियों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो अध्यापन कार्य करती थीं। महिला शिक्षिकाओं का बोध कराने वाले एक अन्य शब्द की रचना करने की आवश्यकता पड़ना तभी सम्भव रहा होगा जबकि महिला शिक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में रही हों। इसके अतिरिक्त पर्दाप्रथा बारहवीं शताब्दी के बाद भारतीय समाज में आयी, अतएव स्त्रियों के लिए अध्यापन कार्य में किसी प्रकार के बन्धन की सम्भावना भी न थी। हो सकता है ये उपाध्यायाएँ केवल कन्याओं को ही पढ़ाती रही हों अथवा बालक-बालिकाओं दोनों को। पाणिनि ने भी आचार्य एवं आचार्यानी के अन्तर को स्पष्ट किया है तथा छात्रीशालाओं का उल्लेख किया है। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्याएँ इन छात्रीशालाओं की संरक्षिकाएँ भी होती होंगी। रामदास गौड़ ने लिखा है— हर्ष के बाद सातवीं-आठवीं शती में भी स्त्रियों के अध्यापन कार्य का पता मिलता है। शंकराचार्य से हार जाने के फलस्वरूप अपने पति मण्डन मिश्र के सन्यास ले लेने पर उभयभारती शृंगगिरि में अध्यापन कार्य करने लगी थी। कहा जाता है कि भारती द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही शृंगेरी और द्वारका के मठों का शिष्य सम्प्रदाय भारती नाम से अभिहित हुआ। किन्तु फिर भी स्थान की कमी एवं असुविधाओं के कारण अधिकांश कन्याएँ घर पर ही पढ़ती होंगी तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने का साहस न कर पाती होंगी। सम्भवतः इसी कारण इन छात्रीशालाओं एवं उपाध्यायाओं के सम्बन्ध में अधिक विवरण प्राप्त नहीं होते। यद्यपि इस काल में मैत्रेयी, गार्गी, विश्ववारा एवं लीला-वती के समान उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएँ थी, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस युग में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन था।

अथवा स्त्री-शिक्षा अपने संगठित रूप में विद्यमान थी। इस सम्बन्ध में एल० मुकर्जी के अनुसार—यह सम्भव है कि इस युग में स्त्रियों के लिए शिक्षा की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी।

सम्भवतः जब समाज में योग्य उपाध्यायों प्राप्त हो जाती होंगी तब उन्हीं के संरक्षण में कन्याओं को भेजा जाता होगा किन्तु इनके उपलब्ध न होने पर बाध्य होकर आचार्यों के पास पुत्रियों की अध्ययनार्थ भेजना पड़ता होगा। जिस काल में गान्धर्व विवाह समाज में असामान्य न था, सहशिक्षा में कन्याओं के अभिभावकों को कोई आपत्ति भी न रही होगी। किन्तु आगे चलकर गान्धर्व-विवाह से कन्याओं के नैतिक पतन की आशंका बढ़ने लगी। अतएव लोग घर पर ही शिक्षक नियुक्त करके कन्याओं की उच्च शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उच्च शिक्षा हेतु दूरस्थ आचार्यों के पास जाने वाली कन्याओं की संख्या भी अधिक न रही होगी क्योंकि जातकों में शिक्षा हेतु तक्षशिला जाने वाली बालिकाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ईसा की चौथी शताब्दी तक लड़कों के लिए भी सार्वजनिक पाठशालाएँ न थीं। हारीत ने व्यवस्था दी है कि कन्याओं की शिक्षा घर पर ही पिता, चाचा अथवा भाई द्वारा होनी चाहिए। इसी प्रकार मनु भी कन्याओं को पुरुष शिक्षकों के संरक्षण में रखकर लड़कों के साथ अध्ययन करने के लिए घर से बाहर भेजने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि सह-शिक्षा से कन्याओं का कौमार्यत्व नष्ट होने की आशंका बढ़ जाती है। स्त्री-शिक्षा का प्रथम संगठित प्रयास करने का श्रेय बौद्धों को प्राप्त है। बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दे दी थी। बौद्धों ने विहारों में निवास करने वाली भिक्षुणियों के लिए शिक्षा की सन्तोषजनक व्यवस्था भी की थी। ब्रह्मवादिनियों के समान इनमें से बहुत-सी नारियों ने धर्म और दर्शन ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य पालन किया। इनमें से कुछ सिंहल देश भी गयी तथा वहाँ बौद्ध धर्म की महान शिक्षिकाओं के रूप में उन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। इन विहारों में ये नारियाँ सहशिक्षा ही ग्रहण करती थीं। किन्तु इन बौद्ध संघों में भी ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग नारी शिक्षा का पूर्ण ह्रास हो चुका था। कितनी प्रतिशत छात्राएँ सहशिक्षा ग्रहण करती होगी, इस प्रश्न का निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु निश्चय ही यह संख्या अधिक नहीं रही होगी।

शिक्षा के विषय:

प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में लिखा गया है। अतः यह अत्यन्त विशाल है। स्मृतियाँ संस्कृत साहित्य में परिवर्तनशील एक विशिष्ट काल की ओर संकेत करती हैं। उनके माध्यम से वैदिक काल से लेकर उनके अपने समय तक की समस्त साहित्यिक रचनाओं की शृंखला का पूर्वाभास कराया गया है। अतएव स्मृतिकालीन विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्रों के काल की समस्त मुख्य रचनाएँ थीं।

ईसा पूर्व पन्द्रह सौ शताब्दी तक अधिकांश वैदिक मन्त्रों के सम्पादन का कार्य पूर्ण हो चुका था। तत्पश्चात् वेदों के अर्थ-बोध के लिए जिन टीकात्मक एवं चर्चात्मक ग्रन्थों का विकास हुआ वे ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। इस काल के विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग वेदों के स्वरूप की रक्षा एवं अर्थों के स्पष्टीकरण में किया गया, न कि नवीन साहित्यिक-रचनाओं के निरूपण में। फलतः वैदिक यज्ञों से सम्बन्ध अनेक सिद्धान्तों, मतवादों और रीतियों का विवेचन ब्राह्मणों में होने लगा। विद्वानों ने विशेष रूप से अपनी साधना का केन्द्र यज्ञों के कर्मकाण्ड को बनाया। परिणाम स्वरूप कर्मकाण्डों में जटिलता एवं दुरुहता आ गयी। दूसरी ओर वेदों की दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास हुआ और उसने उपनिषदों के रूप में पूर्णता प्राप्त की। कालानुक्रम से वेदातिरिक्त साहित्य में भी प्रचुर वृद्धि हुई। फलतः इस सतत वर्धमान साहित्य में पारंगत होना अकेले एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो गया। उस काल में मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था। अतएव वैदिक साहित्य के लोप हो जाने का भय सदा बना रहता था। साहित्य-सुरक्षा के दृष्टिकोण से अध्ययन क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। वैदिक पण्डितों में से कुछ को इस विशाल साहित्य को ज्यों का त्यों कण्ठस्थ करने का कार्य सौंपा गया, जिससे साहित्य का शुद्ध स्वरूप अक्षुण्ण बना रहे तथा अन्य विद्वानों की टीकाओं निरुक्तों और शब्दकोश आदि का अध्ययन करके इनकी व्याख्या करने में अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर दिया गया। इस काल में हिन्दू मेधा की सबसे अधिक निर्णयात्मक एवं रचनात्मक प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ। फलस्वरूप शिक्षा, दर्शन, न्याय, महाकाव्य, भाषाविज्ञान, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, कल्प, अनेकों कलाएँ, व्यावहारिक विद्या आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुईं। इन ग्रन्थों के विद्वानों ने अपने विद्यार्थियों की सुगमता के लिए इन विषयों का नवीनीकरण करते हुए उन्हें सक्षेप में एकत्रित कर दिया। उपनिषदों एवं सूत्रों के काल (ई. पू. प्रथम सहस्राब्दि) में लेखन कला का ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया क्योंकि वैदिक मन्त्रों को लिपि बद्ध करना अधार्मिक माना जाता था। इसी काल में वैदिक चरणों के आधारों पर विद्वानों ने धर्मसूत्रों में एक नवीन साहित्य की रचना भी कर डाली। उपर्युक्त संस्कृत-वाङ्मय के परिवर्तनशील इतिहास को दृष्टिगत करते हुए हम उसकी विविधता एवं विशालता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। स्मृतियों में इस समस्त वाङ्मय में वर्णित सामाजिक रीतियों, धार्मिक कर्मकाण्डों, एवं संस्कारों का सर्वेक्षण किया गया है। वस्तुतः स्मृतियाँ एक विशाल समाज को लक्ष्य करके ही निर्मित की गयी हैं। स्मृति ग्रन्थों में हम इसी साहित्य के उल्लेख की आशा भी रखते हैं। अतएव इनमें गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, उपनिषदों तथा मीमांसाओं में पूर्व विद्यमान श्रेष्ठ प्रथाओं, रीतियों, मान्यताओं एवं संस्कारों का संकलन किया गया है। इस कार्य में जितनी सफलता मनुस्मृति ने प्राप्त की है उतनी अन्य किसी स्मृति ने नहीं। अतः यहां पर मनु स्मृति में संकेतित विषयों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

मनु ने तीनों वेदों को श्रुति कहा है। ये तीन वेद ही संस्कृत साहित्य की प्रथम कड़ी हैं। वैदिक मन्त्रों का विकास चरणों के रूप में हुआ जिनकी वांछित शाखाओं का ज्ञान पुरोहित वर्ग अवश्य प्राप्त करता था। मन्त्र, ब्राह्मण, शाखा को पढ़े हुए ऋग्वेदीय वेदों के पारगामी, समस्त शाखाओं के ज्ञाता ऋत्विज तथा वेदों को पढ़कर पारंगत हुए विद्वान् ब्राह्मण को

विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। जो ब्राह्मण तीन वेदों के ज्ञाता होते थे उन्हें त्रिवेदी कहा जाता था। मनुस्मृति में अध्ययन के लिए वेदों के कुछ प्रमुख विशेष रूप से पारित किये गये हैं। वस्तुतः इस काल तक धार्मिक क्रियाओं एवं प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्धीकरण की प्रक्रियाओं में अत्यन्त विस्तार हो गया था। अतएव विशिष्ट अवसरों पर वेदों की कुछ ऋचाओं के उच्चारण का महत्व भी बढ़ गया। मनु स्मृति में ऐसी ऋचाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इनका उच्चारण पूर्ण सन्तुलन एवं नियम के साथ होना चाहिए जिससे पापों से मुक्ति पायी जा सके। ब्राह्मण अथर्ववेद की अंगिरस श्रुति का प्रयोग शत्रु के नाश के लिए शस्त्र के रूप में करते थे। स्नातकों के प्रतिदिन के स्वाध्याय पाठ में ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का प्रोत्साहन दिया गया है। मनु ने ऐतरेय ब्राह्मण (६.२) के सुब्रह्मण्य नामक मन्त्रों एवं ऐतरेय ब्राह्मण (८. १३-१६) तथा बह्वृच ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेष गाथा का भी उल्लेख किया है।

निष्कर्ष :

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति अपने आप में अद्वितीय थी, शिक्षा को प्रकाश और शक्ति का स्रोत समझा गया है, इसके मध्यम से मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उचित मार्ग को अनुसरण कर अपने जीवन तथा समाज के लिए भी बहुउपयोगी होकर नवीनता की ओर अग्रसर होता है। शिक्षा ही एक ऐसी स्रोत है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक बौद्धिक और अध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर संसार में जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता है। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य संसारिक सुखों से विरक्त होकर वास्तविक जीवन के पथ पर चलना, जिससे मनुष्य अपने ज्ञान के प्रकाश से अन्य लोगों के जीवन को भी प्रकाशित कर सके। 'सा विद्या या विमुक्ते' जैसी शिक्षा पद्धति हमारे प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में दिखाई पड़ती है। मनुष्य अन्य व्यक्तियों को शिक्षा देकर पूर्वजों से उन्नत होने जैसी धारणा से भी अपने जीवन को धन्य कर सकता था। आश्रम जीवन पद्धति जो शिक्षा प्रणाली की मूल थी, जिसमें ब्रह्मचर्य आश्रम चरित्र निर्माण और ज्ञान की प्राप्ति जीवन की मूल मंत्रणा हुआ करती थी, स्वयं व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति करके अपने जीवन के लक्ष्य, मोक्ष की ओर अग्रसर होता था।

संदर्भ स्रोत :

1. घोंग, एम., बैग, आर., सिंह, ए. (2020) इंडियन एजुकेशनरू एंशिअंट, मेडिवल एंड मॉडर्न, इन एजुकेशन एट द इंटरसेक्शन ऑफ ग्लोबलाइजेशन एंड टेक्नोलॉजी, इनटेक ओपन, पृष्ठ 01-12।
2. मिश्र एन., और ऐथल, पी. एस. (2023)। एंशिअंट इंडियन एजुकेशनरू इट्स रेलेवेंस एंड इम्पोर्टेंस इन द मॉडर्न एजुकेशन सिस्टम। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ केस स्टडीज इन बिजनेस प् एंड एजुकेशन।
3. अल्टेकर, ए0एस0(2009), प्राचीन भारत में शिक्षा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, ।
4. यादव,यू. (2018), प्राचीन और वर्तमान शिक्षा प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन, शिक्षा, स्थिरता और समाज, खंड 2, अंक 1, पृष्ठ 10-22।
5. शार्फ,एच. (2018), प्राचीन भारत में शिक्षा, रूटलेज, ।

International Research Journal
IJNRD
Research Through Innovation